International Journal of Sociology and Political Science
www.sociologyjournal.in
Online ISSN: 2664-7745, Print ISSN: 2664-7737
Received: 02-07-2023, Accepted: 17-07-2023, Published: 02-08-2023
Volume 5, Issue 2, 2023, Page No. 21-24

मानव की अवधारणा एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय के विचारों में मानव–निर्माण के तत्व

डॉ. विवेक कुमार राय[1], प्रद्युम्न पाण्डेय[2]
[1] असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, ईश्वर शरण पी जी कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तरप्रदेश, भारत
[2] शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, ईश्वर शरण पी जी कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तरप्रदेश, भारत

सारांश
दीनदयाल जी एक एकात्म मानव का निर्माण करना चाहते थे। उनका जोर मानव के सर्वांगीण विकास पर था क्योंकि वे उसे खण्ड खण्ड में नही अपितु उसकी समग्रता में देखते थे। पश्चिमी विचार चिंतन में इस तरह की दृष्टि का अभाव पाया जाता है। वहां मनुष्य को उसकी समग्रता में न देखकर उसके किसी एक पक्ष विशेष पर जोर दिया जाता रहा है। अरस्तू ने मनुष्य को सिर्फ एक सामाजिक प्राणी मानते हुए उसके अन्य पक्षों को उपेक्षित कर दिया है। इसी तरह सिगमंड फ्रायड मनुष्य में काम तत्व की ही प्रधानता को स्वीकार करते हैं। एडम स्मिथ ने आर्थिक मानव की संकल्पना दी तथा हर्बर्ट साइमन ने प्रशासनिक मानव का सिद्धांत दिया। इनमें से किसी भी विचारक ने मनुष्य को उसकी समग्रता में नही देखा। जबकि भारतीय विचार परंपरा में मनुष्य को उसके समग्र रूप में स्वीकार किया जाता है। मनुष्य के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थों को बराबर महत्व दिया गया है। दीनदयाल जी इसी को आधार बनाकर एकात्म मानव का निर्माण करना चाहते हैं।

मूल शब्द: मानव–निर्माण, दीनदयाल उपाध्याय, भारतीय दर्शन, एकात्म मानववाद

मानव की अवधारणा

प्राचीन काल हो या आधुनिक, पश्चिम हो या पूर्व, धर्म हो या विज्ञान हर जगह हर समय में मनुष्य की स्थिति महत्वपूर्ण रही है। अपने नाटक एंटिगोन में सोफोकॉलेस लिखता है कि ष्संसार में बहुत से निराले चीज हैं लेकिन मनुष्य जैसा निराला कुछ भी नहीं। ग्रीक दार्शनिक प्रोटागोरस ने मनुष्य को सभी वस्तुओं की माप कहा तो वहीं कार्ल मार्क्स मनुष्य को मानवता का मूल मानते हैं। प्लेटो का मानना है कि आदर्श व्यक्ति ही आदर्श राज्य का निर्माण करते हैं क्योंकि राज्य व्यक्ति का ही बृहद रूप है। अपनी पुस्तक रिपब्लिक में वे लिखते हैं कि राज्य किसी ओक वृक्ष या चट्टान से नहीं बल्कि उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों के चरित्र से बनता है। विवेकानंद की भी यही मान्यता है। उन्होंने कहा कि यदि मजबूत इच्छाशक्ति और दृढ़ निश्चय वाले सौ युवा मिल जाए तो दुनिया बदल सकती है। प्लेटो और विवेकानंद की ही भाँति अनेक विचारकों ने मानव–निर्माण को राष्ट्र–निर्माण के लिए सबसे महत्वपूर्ण आधार स्वीकार किया है। दर्शन की सभी परंपराओं में– चाहे वह ग्रीक हो, ज्यूइश हो, चाइनीज हो, भारतीय हो, क्रिस्चियन हो, इस्लामिक हो या फिर मार्क्सवादी चिंतन हो– इन सभी में मानव की अवधारणा पर गहन विचार किया गया है। सभी दर्शन परंपराओं में चिंतन का केंद्र–बिंदु मनुष्य ही रहा है। क्योंकि दर्शन मनुष्य के लिए ही है। हालांकि यह ईश्वर, मनुष्य और संसार सभी से सम्बंधित है लेकिन गहन एवं अपने वास्तविक रूप में यह मनुष्य–केंद्रित है क्योंकि ईश्वर एवं संसार मनुष्य की ही लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति के सहायतार्थ हैं।[1]

वैसे तो मनुष्य की वृत्तियां, प्रेरणाएँ, आकांक्षाएं और आदर्श एक जैसे ही होते हैं फिर भी अनेक चिंतन परंपराओं में मनुष्य की अवधारणा में थोड़ा बहुत अंतर पाया जाता है। हालांकि सभी लोग एकमत से इसे स्वीकार नहीं करते फिर भी सामान्यतः ईस्टर्न मैन को अंतर्ज्ञानी, आध्यात्मिक एवं अंतर्मुखी जबकि वेस्टर्न मैन को बौद्धिक, भौतिकतावादी एवं बहिर्मुखी समझा जाता है। यह विभाजन पूरी तरह से सत्य नहीं है क्योंकि यह मनुष्य की स्वाभाविक एवं मौलिक नहीं अपितु सांस्कृतिक एवं सामाजिक विभाजन दर्शाता है। भारत के महान शिक्षाविद एवं दार्शनिक राधाकृष्णन मानते हैं कि सांस्कृतिक उपलब्धियों में तमाम भिन्नताओं के बावजूद मनुष्य– पूर्व का हो या पश्चिम का, एक ही है। मनुष्य की मूल प्रेरणाएँ, प्रवृत्तियाँ, आकांक्षाएँ, आदर्श एक ही हैं। न केवल मनुष्य का मूल स्वभाव हर जगह एक जैसा है, बल्कि जब हम इतिहास पर एक लंबी दृष्टि डालते हैं, तो हम पाएंगे कि जीवन के पश्चिमी दृष्टिकोण से अलग कोई पूर्वी दृष्टिकोण नहीं है।[2]

दरअसल मनुष्य की मूल प्रकृति में कोई भेद नहीं है फिर चाहे वह पूर्व का हो या पश्चिम का, एशियाई हो या यूरोपीय, अपितु यह भेद मनुष्य का अध्ययन करने वाले विचारकों के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होता है क्योंकि प्रत्येक विचारक का दृष्टिकोण उसके समय, काल एवं परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता है। इसी अलग दृष्टिकोण के कारण हॉब्स मानव स्वभाव को स्वार्थी, अहंकारी, झगड़ालू एवं घोर निराशावादी मानते हैं जो एक–दूसरे के प्रति क्रूरता से भरा हुआ रहता है। हॉब्स के विपरीत जॉन लॉक मनुष्य को परोपकारी, निःस्वार्थ, शांतिप्रिय और अच्छा मानते हैं। दोनों ही मत पूर्णतरू सत्य नहीं है क्योंकि हॉब्स और लॉक दोनों मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की बजाय उसके सिर्फ एक पक्ष को ही देखते हैं। यदि हम मनुष्य का अध्ययन उसकी समग्रता में करेंगें तो पाएंगे कि मनुष्य में अच्छाई और बुराई दोनों साथ–साथ होती है। न तो मनुष्य पूर्णतरू अच्छा और न ही पूर्णतः बुरा होता। पश्चिमी विचारकों की इस खंड–खंड में विचार करने की परंपरा का पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने विरोध किया और एकात्म मानववाद का विचार प्रस्तुत किया जोकि मनुष्य को खण्ड–खण्ड में देखने की बजाय उसे उसकी समग्रता में देखता है। किसी चीज को उसकी समग्रता एवं वास्तविक स्वरूप में देखना ही भारतीय दर्शन की केंद्रीय प्रवृत्ति रही है।

पश्चिम की प्राचीन ग्रीक चिंतन हो या फिर प्राचीन भारतीय चिंतन सभी में व्यक्ति को प्रतिष्ठा एवं सम्मान के साथ देखा गया है। सुकरात कहते हैं कि श्खुद को जानोश। और वेदांत दर्शन भी आत्मज्ञान पर बल देता है कि आत्मज्ञान या खुद को जान लेने से तुम को पता चलेगा कि तुम अपने मूल स्वभाव में स्वतंत्र, शुद्ध और शाश्वत हो सिर्फ अविद्या के कारण ही खुद को बन्धन में

समझने लगे हो। मानव–निर्माण का सबसे आधारभूत तत्व खुद को जानना ही है। खुद को जानना यानी अपनी शक्ति, सामर्थ्य और प्रतिष्ठा को पहचानना, खुद को भाग्य भरोसे छोड़ने की बजाय खुद की शक्ति में विश्वास, अपनी सहायता के लिए ऊपर आकाश में बैठे किसी अज्ञात देवता की ओर देखने की बजाय खुद से कहना कि अहं ब्रम्हास्मि अर्थात मैं खुद ही ईश्वर हूँ और मैं अपने भाग्य को स्वयं निर्माता हूँ। यही मानववाद का मूलमंत्र और मानव–निर्माण की पहली शर्त है। प्राचीन चिंतन में स्थापित मानव की यह प्रतिष्ठा मध्यकाल आते–आते कम हो गयी। मनुष्य अंधविश्वास में फंस कर भाग्यवादी बन गया तथा अपने आत्मविश्वास को खो बैठा। पश्चिम में इसाई धर्म एवं चर्च समर्थक विचारकों ने तथा भारत मे विदेशी गुलामी ने मनुष्य को इस पतन की अवस्था मे पहुँचाने का कार्य किया।

मध्यकाल में मनुष्य की स्थिति

यूरोप में मध्यकाल के दौरान मनुष्य की स्थिति एवं प्रतिष्ठा में कमी आई और उसके व्यक्तित्व का पतन हुआ। मध्यकाल में राज्य सत्ता (लौकिक) को चर्च सत्ता (पारलौकिक) के अधीन कर दिया गया। व्यक्ति के विवेक की जगह आस्था को स्थापित कर दिया गया तथा व्यक्ति द्वारा सोचने, समझने एवं तर्क करने की क्षमता खत्म कर दी गई। खुद में विश्वास करने की बजाय वह भाग्यवादी हो गया तथा भौतिक जीवन की खुशियों के लिए पराभौतिक एवं रहस्यवादी शक्तियों की आराधना करने लगा। इस समय विभिन्न ईसाई विचारकों द्वारा चर्च की शक्ति को सर्वोच्च बताया गया तथा उसे लौकिक एवं पारलौकिक दोनों सत्ताओं का अंतिम नियामक माना गया। इन्होंने मनुष्य को ओरिजिनल सिनर अथवा पाप की संतान कहा। संत ऑगस्टिन जैसे विचारक तो मनुष्य की प्रतिष्ठा को इस हद तक गिरा देते हैं कि वे हर उस इंसान को घृणायोग्य मानते हैं जो मनुष्य में अपना भरोसा रखता है।3 ऐसी स्थिति में मानव जीवन के प्रत्येक पक्षों में स्वतंत्रता की आवश्यकता महसूस की गई। कुछ बुद्धिजीवियों, लेखकों एवं विचारकों में छिपी हुई चिंगारी ने धीरे धीरे आग का रूप धारण कर लिया जिसकी परिणिति पुनर्जागरण में हुई। इटली में प्रस्फुटित पुनर्जागरण का यह बीज वृक्ष बनकर धीरे–धीरे पूरे यूरोप में फैल गया। इसकी सबसे प्रमुख घोषणा थी– आस्था की जगह मनुष्य के विवेक पर विश्वास। विभिन्न वैज्ञानिक खोजों एवं धर्मसुधार आन्दोलनों ने पुनर्जागरण के आधार के रूप में कार्य किया। मनुष्य के विवेक एवं बुद्धि में विश्वास प्रकट करते हुए उद्घोषणा की गई सुख एवं उन्नति के लिए मनुष्य अदृश्य शक्तियों की तरफ देखने की बजाय खुद कि शक्ति में विश्वास रखें क्योंकि सच्चे अर्थों में अपने कार्यों के लिए वही अंतिम रूप से उत्तरदायी तथा अपने भाग्य का निर्माता है।

भारतीय इतिहास में भी मध्यकाल मनुष्य की स्थिति में अवनति का काल था। हजार वर्षों की विदेशी हुकूमत के कारण भारतीय लोगों में अपने प्रति निम्नता की भावनाएं उत्पन्न हो गई। आम जनमानस भाग्यवादी हो गया और उसने अपने बुद्धि एवं विवेक पर विश्वास करने की बजाय खुद को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। हालांकि इस दौरान कुछ लेखकों व बुद्धिजीवियों ने लोगों की सोई हुई शक्ति को जगाने का प्रयास किया तथा अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलन चले जो कि मनुष्य को खुद के विवेक एवं सामर्थ्य में विश्वास करने को प्रेरित कर रहे थे। हमारे राष्ट्रीय जागरण का आरंभ धार्मिक सुधारों एवं हिन्दू नवोत्थान से हुआ। सामाजिक और राजनीतिक आकांक्षाएं धार्मिक रूपों में प्रकट हुई। एक ओर जीर्ण धार्मिक रीति–रिवाज़ों और कर्मकांडों का विरोध किया गया और दूसरी ओर नयी परिस्थितियों के अनुरूप धर्म की नई व्याख्याएं की गईं। प्राचीन धर्मभावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का आश्वासन था जबकि इस नयी धर्मभावना का संकल्प मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाने का था।[4] इसका एक उदाहरण तुलसीदास जी की यह चौपाई है जिसमें वह कहते हैं कि– सकल पदारथ एहि जग माही। करम हीन नर पावत नाही।। यानी कि सब कुछ यहीं इसी संसार में ही है, ऊपर आकाश से कुछ प्राप्त नही होने वाला। इसलिए खुद को भाग्य भरोसे छोड़ने की बजाय अपनी सामर्थ्य एवं कर्म पर विश्वास करना चाहिए। इन तमाम प्रयासों के बावजूद और विदेशी शासन लगातार बना रहने के कारण लोगों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। जनसामान्य अभी भी खुद में आत्मविश्वास को पूरी तरह से नहीं जगा सका। लेकिन यूरोप से उठी पुनर्जागरण की आंधी धीरे–धीरे होते हुए 19वीं शताब्दी में भारत में भी पहुंची। यह समय भारतीय इतिहास में मध्यकाल एवं आधुनिक काल के बीच संक्रमण का काल कहा जा सकता है। अनेक व्यक्तियों ने सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के भागीरथ प्रयास किए। इस दौरान कुछ राजनीतिक आंदोलनों की भी शुरुआत हुई जो बीसवीं शताब्दी तक अपने पूर्ण स्वरूप में दिखने लगे। इन सभी का उद्देश्य मनुष्य की स्थिति को ऊपर उठाना तथा विषमता एवं भेदभाव को दूर करके भाईचारे को बढ़ावा देना था। इन व्यक्तियों में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रविंद्रनाथ टैगोर, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक एवं महात्मा गांधी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सुधारकों द्वारा मनुष्य की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया गया। स्वामी विवेकानंद ने बहुत ही कड़े शब्दों में भारतीयों को संबोधित करते हुए कहा कि सुदृढ बनो! मनुष्य बनो! मैं किसी दुष्ट के प्रति सम्मान रखूंगा जब तक उसमें पुरुषत्व एवं शक्ति है क्योंकि उसकी शक्ति उसे किसी दिन उसकी दुष्टता का त्याग करने के लिए विवश कर देगी और उसके स्वार्थी कार्यों से उसे विरत करके सत्य के सामने ले आएगी।[5]

इन सभी महापुरुषों के प्रयत्नों से अंततः 1947 में भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई लेकिन भारत अभी भी सामाजिक, मानसिक एवं आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो पाया। भारतीय लोग अभी भी उस स्थिति से काफी दूर थे जिसकी कल्पना स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी जैसे विभूतियों ने की थी। भारत के पास कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। आगे बढ़ने के लिए कोई निर्धारित कार्यक्रम एवं मार्ग नहीं था। कुछ लोगों का मत था कि हमें वहीं से शुरुआत करनी चाहिए जहां हम हजार वर्ष पूर्व रुक गए थे जबकि कुछ लोगों का मत था कि पुराना सब छोड़कर हमें पश्चिमी विकास के प्रतिमान को अपना लेना चाहिए। दोनों ही तरह की मान्यताएं सही नहीं है। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए जून 1964 में आर. एस. एस. के शशिक्षा वर्गश में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने श्एकात्म–मानव दर्शनश का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसका सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य या यूं कहें कि उसका निचोड़ मानव–निर्माण ही है। दीनदयाल जी का कहना है कि भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी शक्तियों को जगाना होगा तथा देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा।[6]

मानव–निर्माण संबंधी दीनदयाल उपाध्याय के विचार

जब 1947 में भारत को ब्रिटिश हुकूमत से आजादी मिली तो उस समय न तो सामान्य नागरिकों के पास और न ही नेतृत्व वर्ग के पास भारत के प्रगति की कोई निश्चित रुपरेखा मौजूद थी। उस समय नेतृत्व वर्ग के पास अमेरिका द्वारा संचालित पूंजीवाद और सोवियत संघ द्वारा संचालित साम्यवाद में से ही किसी एक को चुनने का विकल्प था क्योंकि नेतृत्व के अधिकांश लोगों का यह मानना था कि भारत की प्रगति पश्चिम के प्रतिमान का अनुसरण करके ही की जा सकती है। दीनदयाल जी इन दोनों विकल्पों में से किसी को भी भारतीय स्थिति के लिए सही नहीं मानते थे

क्योंकि पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ने ही मानवीय कल्याण को स्वीकार तो किया था लेकिन दोनों ने ही मनुष्य को केंद्र से हटाकर अप्रासंगिक स्थिति में ला दिया है। ऐसा मुख्यतः दो कारणों से हुआ है पहला पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों मानते हैं कि व्यक्ति और समाज या राज्य के बीच परस्पर अंतर्विरोध है और दूसरा दोनों विचारधारा यह मानती हैं कि स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी सिद्धांत है, दोनों का एक साथ अस्तित्व संभव नहीं है। पूँजीवाद मानता है कि मनुष्य एक स्वतंत्र इकाई है। वह समाज को व्यक्ति के विकास में बाधक समझता है और योग्यतम की विजय के सिद्धांत को लागू करके आपस में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा चाहता है। जबकि समाजवादी व्यक्ति को लालची और स्वार्थी समझते हैं और उस पर समाज का नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं। वे स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा को समाज के लिए घातक समझते हैं क्योंकि इससे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाएगी और मत्स्य–न्याय की स्थिति आ जाएगी। पूंजीवाद समाज को व्यक्ति के विकास में अवरोध तथा समाजवाद व्यक्ति को समाज के विकास में अवरोध समझता है। दोनों ही धारणाएं त्रुटिपूर्ण हैं। भारतीय चिंतन परंपरा व्यक्ति और समाज में कोई विरोध स्वीकार नही करती और न ही व्यक्ति को सिर्फ भौतिक प्राणी मानती है। भारतीय परंपरा मनुष्य को अभिन्न इकाई मानती है, अभिन्न का अर्थ है जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता है। एक इकाई जो अविभाज्य है उसे एकीकृत कहा जाता है। समाज और व्यक्ति आपस में इतने गुंथे हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति गांव, शहर या मोहल्ले के बिना नहीं रह सकते।[7]

पूंजीवाद और समाजवाद में स्वतंत्रता और समानता की अवधारणा को लेकर भी मतभेद है। ये दोनों विचारधाराएं स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानती हैं। पूंजीवाद जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर देता है वहीं समाजवाद समानता पर जोर देता है। जबकि भारतीय दर्शन में ऐसा नही है। भारतीय चिंतन परंपरा में तो स्वतंत्रता और समानता को एक–दुसरे का पूरक समझ जाता है। दीनदयालजी कहते हैं कि मनुष्य के लिए स्वतंत्रता और समानता एक साथ आवश्यक है। पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही विचारधाराएं अपने आप मे अपूर्ण हैं। दोनों ही विचारधाराएं मनुष्य को उसकी समग्रता में समझने में अपर्याप्त सिद्ध हुई हैं। मनुष्य की भलाई के लिए उत्पन्न हुई दोनों ही विचारधाराएं व्यवहार में मनुष्य के अमानवीयकरण का जरिया बन गयी और इन दोनों ही व्यवस्थाओं के अंतर्गत मनुष्य अपनी पहचान खो चुका है। इसलिए दीनदयाल जी कहते हैं कि हम न तो पूंजीवाद में आस्था रखते हैं और न ही समाजवाद में। हम एकात्म–मानववाद में आस्था रखते हैं।[8]

सभी ज्ञात विचार परंपरा में कम या अधिक रूप में इस बात को स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए स्टेट आफ परफेक्शन को प्राप्त करना है। पश्चिम के अधिकांश भौतिकतावादी विचारकों का यह मानना है कि मनुष्य द्वारा भौतिक एवं शारीरिक सुखों की अभिवृद्धि ही उसे परफेक्शन की ओर ले जाती है। बेंथम का मानना है कि राज्य का कर्तव्य अधिकांश व्यक्तियों को अधिकांश सुख प्रदान करना है क्योंकि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है। यदि सुख की मात्रा समान हो तो वह शारीरिक सुख को मानसिक सुख के बराबर स्वीकार करता है। जबकि दीनदयाल उपाध्याय का मानना है कि शारीरिक सुख सबसे निम्न स्तर का सुख है क्योंकि यह अस्थाई होता है और इसकी कभी भी तृप्ति नहीं होती। आज हमें जिस चीज की कामना होती है यदि उसे हम प्राप्त कर लेते हैं तो इससे उसकी तृप्ति नहीं हो जाती बल्कि उसकी लालसा और भी बढ़ती जाती है। इसीलिए दीनदयाल जी शारीरिक सुख से अधिक महत्व मानसिक सुख को और मानसिक सुख से अधिक महत्व आध्यात्मिक सुख को देते हैं। दीनदयाल जी की स्वामी विवेकानंद की इस बात में अटूट श्रद्धा है कि जो स्वतंत्रता हमें एक घंटे के लिए स्वतंत्र करती है वह अच्छी है लेकिन जो एक दिन के लिए स्वतंत्र करती है वह श्रेष्ठ है लेकिन जो हमेशा के लिए स्वतंत्र कर दे वही श्रेष्ठतम है और इसी को आध्यात्मिक स्वतंत्रता अथवा आध्यात्मिक सुख या आनंद कहते हैं और इसी अवस्था को भारतीय दर्शन में परफेक्शन की अवस्था माना गया है। इसे वेदांत दर्शन में मुक्ति या मोक्ष, बौद्ध दर्शन में निर्वाण, जैन दर्शन में मोक्ष कहा जाता है। लाओत्से इसे ही ताओ कहता है।

वैदिक दर्शन में मानव जीवन के चार पुरुषार्थ बतलाए गए हैं– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। पश्चिम के अधिकांश विचारकों द्वारा सिर्फ अर्थ एवं काम को ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य स्वीकार किया गया है। दीनदयाल जी का मानना है कि यह पश्चिम द्वारा चीजों को खंड–खंड में देखने का नतीजा है और इस प्रकार का मानव अपूर्ण होगा। मनुष्य की सिर्फ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपूर्णता का लक्षण है क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व के अन्य पक्ष भी होते हैं। एक व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय होता है। जो कोई भी मनुष्य के सर्वांगीण विकास की इच्छा रखता है उसे इन सभी पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है अर्थात शरीर,मन, बुद्धि और आत्मा इन सभी को संतुष्ट किए जाने की आवश्यकता है। तभी व्यक्ति वास्तविक सुख का अनुभव करेगा। इसका मतलब मनुष्य की भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की प्रगति आवश्यक है।[9]

कुछ लोगों का मानना है कि भारतीय दर्शन में सिर्फ धर्म एवं मोक्ष पर ही ध्यान दिया गया है, मनुष्य की भौतिक एवं शारीरिक जरूरतों की उपेक्षा की गई है। दीनदयाल जी कहते हैं कि यह भारतीय दर्शन के संबंध में एक भ्रांत धारणा है क्योंकि भारतीय दर्शन मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर जोर देता है। इसमें धर्म एवं मोक्ष के साथ–साथ अर्थ एवं काम को भी उचित महत्व प्रदान किया गया है। भारतीय दर्शन मानता है कि शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम् अर्थात शरीर धर्म का प्रथम साधन है क्योंकि अगर व्यक्ति शरीर से दुर्बल है तो वह आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः)। दीनदयाल जी जितना महत्व मनुष्य के मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास को देते हैं उतना ही महत्व शारीरिक एवं भौतिक आवश्यकताओं को भी देते हैं। दीनदयाल जी का कहना है कि शरीर को महत्व पश्चिम ने भी दिया और भारत ने भी, लेकिन दोनों में महत्वपूर्ण अंतर यह है कि उन्होंने शरीर एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को साध्य माना और हमने साधन।[10]

दीनदयाल जी प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ कौटिल्य से बेहद प्रभावित थे। वे उनकी इस बात का समर्थन करते हैं कि सुखस्य मूलं धर्मरू धर्मस्य मूलं अर्थरू। यानी यदि हमें सुख चाहिए तो यह धर्म के रास्ते पर चलकर ही प्राप्त होगा और धर्म के रास्ते पर हम तभी चल सकेंगे जब हमारी आर्थिक अथवा भौतिक आवश्यकताएं पूर्ण हो जाएंगी। यह उन लोगों को उचित प्रत्युत्तर है जो कहते हैं कि भारतीय दर्शन में भौतिक उन्नति(अर्थ और काम) पर ध्यान न देकर सिर्फ पराभौतिक उन्नति(धर्म और मोक्ष) पर अधिक बल दिया गया है। जबकि भारतीय दर्शन में तो धर्म की परिभाषा ही यह है कि जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो वही धर्म है।(यतोभ्युदिनरू श्रेयससिद्धि स धर्मरू) इससे स्पष्ट है कि दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी को पर्याप्त महत्व देता हुआ उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास करता है। इस प्रकार निर्मित मानव दीनदयाल जी के अनुसार एक एकात्म मानव होगा। दीनदयाल जी पश्चिम विचार पद्धति की इसीलिए आलोचना करते हैं क्योंकि उसने मानव को समग्रता में स्वीकार करने की बजाय उसके किसी एक पक्ष की ही प्रधानता स्वीकार किया है। जहां अरस्तु मनुष्य को राजनीतिक प्राणी मानते हैं वही

एडम स्मिथ उसे आर्थिक प्राणी कहते हैं। सिगमंड फ्रायड केवल काम को ही मनुष्य जीवन का केंद्र समझते हैं तो कार्ल मार्क्स आर्थिक अर्थ को मानव जीवन का प्रेरक तत्व मानते थे। मार्क्स के विपरीत हीगल विचार को ही जीवन का सार तत्व मानते थे। इनमें से किसी ने भी मनुष्य को समग्रता में समझने की कोशिश नही की। किसी ने एक पक्ष को महत्व दिया तो दूसरे पक्ष को उपेक्षित कर दिया तो किसी ने दूसरे पक्ष को महत्व दिया तो अन्य सभी पक्षों को उपेक्षित कर दिया। दीनदयाल जी का एकात्म मानवदर्शन इन कमियों को दूर करते हुए मनुष्य के सभी पक्षों का अध्ययन करता है तथा उसकी सभी जरूरतों, चाहे वह शरीर सम्बन्धी हो, या फिर मन, बुद्धि और आत्मा सम्बन्धी, को पूरी करके एक एकात्म मानव का निर्माण करना चाहता है। क्योंकि दीनदयाल जी का मानना है कि मनुष्य के सिर्फ किसी एक पक्ष की उन्नति करके अन्य पक्षों को उपेक्षित रखना अपूर्णता का लक्षण है। बल्कि मनुष्य के लिए तो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सभी उद्देश्य को प्राप्त करना है ताकि उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी की उन्नति हो सके और वह एक पूर्ण या एकात्म मनुष्य बन सके।

पश्चिम के अधिकांश विचारकों के विपरीत दीनदयाल जी इन्द्रियों को सत्य तक पहुँचने का अंतिम साधन नही मानते। क्योंकि इंद्रियां सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करने में सक्षम नही हैं। आँखे सबकुछ नही देख सकती है और किसी भी वस्तु को उसके मूल स्वरूप में नही देखा जा सकता। इस असमर्थता को प्रकट करने के लिए दीनदयाल जी चलते हुए ट्रैन से दिखने वाले पेड़ो का उदाहरण देते हैं जो कि वास्तव में स्थिर होते हैं लेकिन देखने पर चलते हुए प्रतीत होते है। दीनदयाल जी का मानना है इंद्रियां अंतिम सत्य तक नहीं पहुंचा सकती क्योंकि अंतिम सत्य इन्द्रियों से परे है। इंद्रियां सिर्फ बाहरी संसार को दिखा सकती है लेकिन हमारे लिए हमारा आंतरिक संसार भी महत्वपूर्ण है क्योंकि पूर्णता और एकता ही हमेशा से हमारा लक्ष्य रही है।

निष्कर्ष

गोस्वामी तुलसीदास जी कृत रामचरितमानस के किष्किंधाकांड के अंत में एक प्रसंग है जिसमें हनुमान जी के पास शक्ति होते हुए भी वह समुद्र पार कर सकने की अपनी क्षमता में अविश्वास प्रकट करते हैं। उस समय जामवंत जी ने उन्हें उनकी शक्ति का एहसास कराया और बताया कि इस संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे करना आपके लिए सम्भव न हो। सिर्फ खुद के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की आवश्यकता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति स्वतंत्रता पश्चात भारत एवं भारतीयों की थी। उनमें शक्ति और प्रतिभा दोनों विद्यमान थी लेकिन हजार साल की गुलामी के कारण वे अपनी उस शक्ति को भूल बैठे थे। उस समय जामवंत जी की ही भांति कई व्यक्तियों ने भारतीयों में उस सोई हुई शक्ति को जागृत करने का भरसक प्रयास किया जिनमें दीनदयाल जी का कार्य अतिमहत्वपूर्ण है। उन्होंने प्राचीन काल से चली आ रही भारतीय चिंतन पद्धति को आधार बनाकर मानव–निर्माण और राष्ट्र–निर्माण का भागीरथ प्रयास किया और इसके लिए एकात्म मानव दर्शन के रूप एक सारगर्भित रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने पश्चिमी प्रतिमान को भारतीय परिस्थितियों के लिए प्रतिकूल एवं अपूर्ण माना क्योंकि उसमें व्यक्ति की समग्रता की जगह खण्ड–खण्ड पर विचार किया गया था। दीनदयाल जी का मानना है कि व्यक्ति के विकास के लिए उसके शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा सभी का विकास आवश्यक है। इसके लिए चारों पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में सामंजस्य स्थापित होना परम् आवश्यक है। इस प्रकार से निर्मित मानव एकात्म मानव होगा और यह एकात्म एवं सशक्त मानव ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण करेगा।

सन्दर्भ–सूची

1. आर. बालासुब्रमण्यन. अद्वैत वेदांतरू इट्स यूनिटी विथ अदर सिस्टम्स एंड इट्स कंटेम्पररी रेलवंस. रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट ऑफ कल्चर, 1990, पेज.17.
2. राधाकृष्णन, एस. ईस्ट एंड वेस्टरू सम रिफ्लेक्शन्स. लंदनरू एलन एंड अनविन लिमिटेड, 1955, पेज.13.
3. लमोंट, कोर्लिस. द फिलॉसॉफ़ी ऑफ हुमानिज्म. लंदनरू विजन प्रेस लिमिटेड. 1962, पेज.16.
4. नवलकिशोर. मानववाद और साहित्य. दिल्लीरू शुभदा प्रकाशन, 1972, पृ.41.
5. विवेकानंद, स्वामी. द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानंद बाई ईस्टर्न एंड वेस्टर्न डिसिपल्स. कलकत्तारू अद्वैत आश्रम, 1912, वॉल्यूम.फर्स्ट, पेज.271.
6. उपाध्याय, दीनदयाल. सम्पूर्ण वाङ्गमय. नई दिल्लीरू प्रभात प्रकाशन, 2017, खण्ड.12, पृ.97.
7. उपाध्याय, दीनदयाल. इंटीग्रल हुमानिज्मरू एन एनालिसिस ऑफ सम बेसिक एलिमेंट्स. न्यू डेल्हीरू प्रभात पब्लिकेशन्स, 2020, पेज.65.
8. वही., पृ.23.
9. वही., पृ.47.
10. उपाध्याय, दीनदयाल. सम्पूर्ण वाङ्गमय. नई दिल्लीरू प्रभात प्रकाशन, 2017, खण्ड 12, पृ.59.